RNI No. 26281/74 रजि. नं. पी.बी./जे.एल.-011/2021-23

साप्ताहिक

आर्य मर्यादा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रमुख पत्र

200 वीं
महर्षि दयानन्द सरस्वती जयन्ती
1824-2024

वर्षः 50, अंक : 8 एक प्रति : 2 रुपये
कुल पृष्ठ : 8
रविवार 21 मई, 2023
विक्रमी सम्वत् 2080, सृष्टि सम्वत् 1960853124
दयानन्दाब्द : 199 वार्षिक शुल्क : 100 रुपये
आजीवन शुल्क : 1000 रुपये
दूरभाष : 0181-2292926, 5062726
E-mail: apspunjab2010@gmail.com,
www.aryapratinidhisabha.org

वर्ष-50, अंक : 8, 18-21 मई 2023 तदनुसार 7 ज्येष्ठ, सम्वत् 2080 मूल्य 2 रु०, वार्षिक 100 रु० आजीवन 1000 रु०

हे स्वामी! मेरे तमोगुण, रजोगुण को सात्विक बनाओ

ले०-आचार्य ज्ञानेश्वरार्य

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।।

अथर्व. १.१.२

शब्दार्थ-पुनः = फिर, **एहि** = आओ, **वाचस्पते** = वाणी-ज्ञान के देवता, **देवेन** = दिव्य, **मनसा** = मन के, **सह** = साथ, **वसोः पते** = धन-सम्पत्ति के स्वामी, **निरमय** = मुझे ज्ञान में रमण कराओ, **मयि** = मेरा, **श्रुतम्** = सुना हुआ ज्ञान, **मयि एव** = मेरे में ही, **अस्तु** = ठहर जाये।

भावार्थ-हे परमेश्वर! मेरे में एक बड़ी कमी है कि मैं जो कुछ पढ़ता हूँ, देखता हूँ वह मेरे चित्त में ठहरता ही नहीं है। मैं उसे तत्काल ही भूल जाता हूँ। अब तक मैंने न जाने कितने उत्तमोत्तम विद्वानों के प्रवचन, कथाएँ, उपदेश सुने हैं और न जाने कितने प्रभावशाली शास्त्रों के सिद्धान्तों को पढ़ा है लेकिन ये सब उपदेश एक कान से सुनाई देते हैं और दूसरे कान से निकल जाते हैं, पढ़े हुए को ऐसे भूल जाता हूँ जैसे कि पानी में खींची लकीरें मिट जाती हैं। कोई भी उपदेश मन में धारण नहीं कर पाता हूँ। न जाने एक छोटी सी आदर्श बात को बचपन से अब तक कितनी बार पढ़ा-सुना है लेकिन उसे जब व्यवहार में लाने का समय आता है तब बिल्कुल विस्मृत हो जाती है।

मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे वाणी के स्वामी परमात्मदेव! मेरे मन में तमोगुण, रजोगुण उभर गये हैं। इसे सात्विक बनाओ। मनुष्य सात्विक मन से, एकाग्रता से किसी विषय को पढ़ेगा, सुनेगा, देखेगा तो पढ़े, सुने, देखे विषयों की स्मृति भी गहरी बनेगी। सात्विक मन वाला व्यक्ति पढ़े, सुने विषय पर गहराई से मनन भी करेगा और मनन करके उस पर पुनः निदिध्यासन भी करेगा। निदिध्यासन करके विषय के स्वरूप को ठीक प्रकार से जान लेगा। इतना ही नहीं वह उस वस्तु को जानने वाला अन्यों को भी जानने के लिए पढ़ायेगा, उपदेश करेगा, चर्चा भी करेगा। इससे भी आगे दिव्य सात्त्विक मन वाला व्यक्ति पढ़े, सुने, जाने हुए सिद्धान्तों को व्यवहार में भी उतारेगा, चाहे उसे इसके लिए कितना ही कष्ट, बाधा, अपमान, दुःख भी क्यों न उठाने पड़े।

ऋषियों ने इसी बात को अन्य शब्दों में कहा है कि ज्ञान चार प्रकार की प्रक्रिया से ही परिपक्व होता है। १. आगम काल, २. स्वाध्याय काल, ३. प्रवचन काल, ४. व्यवहार काल। ज्ञान को धारण करने की विधि को अन्य ऋषियों ने श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार शब्दों से वर्णित किया है। ऋषि कहते हैं कि उपदेष्टा गुरु-आचार्य के समक्ष विद्यार्थी शान्त, एकान्त स्थान में एकाग्रचित्त होकर तालीनता पूर्वक, आसन लगाकर बैठे और आखें बन्द करके उसके मुँह से निकलने वाले एक-एक शब्द को ध्यानपूर्वक सुने। सुनने के बाद अकेले में पुनः उसकी मनन पूर्वक आवृत्ति करे। आवृत्ति करने के पश्चात् उसके विषय में निर्णय लेवे कि यह सत्य है। उसे क्रियान्वित करने का संकल्प करे, प्रतिज्ञा को धारण करके उसे जीवन व्यवहार में लाने के लिए कटिबद्ध हो जाये। उस धारण किये हुए व्रत को सतत जीवन व्यवहार में बनाये रखने के लिए सतर्क सावधान रहे। वह आत्म निरीक्षण करता रहे कि कहीं आलस्य प्रमाद के कारण मैं धारण किये हुए संकल्प को भूल तो नहीं रहा हूँ, किसी लौकिक मान-सम्मान, प्रतिष्ठा, यश की हानि को होता देखकर मैं इसका परित्याग तो नहीं कर रहा हूँ? किसी दबाव, प्रलोभन के आगे इसे छोड़ तो नहीं रहा हूँ?

परमपिता परमेश्वर से भी नित्य श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करे कि हे मेरे स्वामी! मेरे मन को ऐसा प्रकाशित कर दो कि सब सुना हुआ इसमें अच्छी प्रकार से स्थिर हो जाये। मेरे चित्त को ऐसा द्योतमान् कर दो कि सब जाना हुआ स्मृति में सदा बना रहे। मेरी बुद्धि को ऐसा मेधावी बना दो कि जब भी सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, लाभकारी-हानिकारक का निर्णय लेना पड़े तो मैं तत्काल सही निर्णय ले सकूँ, किंकर्त्तव्यविमूढ़ न बनूँ।

हे ज्ञान के दाता परमेश्वर! आपकी कृपा अनुग्रह के बिना मेरा सुना, पढ़ा, जाना हुआ ज्ञान स्थिर नहीं हो सकता है। हमारा स्वयं का इतना सामर्थ्य नहीं है कि हम स्वयं अपने चित्त, मन, बुद्धि, अन्तःकरण को ऐसा भव्य, दिव्य बना लें। अब तो आप ही अपनी ओर से हम पर दया करके हमारे मन में आ जाओ और इसे श्रेष्ठतम विकसित करके, प्रकर्षता को प्राप्त कराओ, जिससे हमारा पढ़ा, सुना ज्ञान हमारे पास ही रहे और इसे अपने व दूसरों के कल्याण के लिए प्रयोग में ला सकें यही आपसे विनम्र प्रार्थना है।

संसार चक्र

ले.-श्री मास्टर मातुराम जी आर्य

इस संसार में सृष्टि के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार मनुष्यों में पाये जाते हैं। (एक) कभी किसी ने नहीं बनायी। सदैव से स्वाभाविक रूप से अनादि काल से चली आ रही है। (दो) आस्तिक बुद्धि के जन जो यह जानते और मानते हैं कि यह जगत् प्रवाह से अनादि (रात के पीछे दिन दिन के पीछे रात वत्) कल्प कल्पनान्तरों से किसी नैमित्तिक सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, ज्योति:स्वरूप, न्यायकारी, धाता, विधाता, कर्मफल प्रदाता, व्यवस्थापक, सच्चिदानंद-स्वरूप, सर्वज्ञ, अनन्त, नित्य शुद्ध-बुद्ध, दयालु, नित्यमुक्त, अजन्मा, अजर, अमर, सर्वान्तर्यामी सत्ता द्वारा रचा, धारण किया जाता तथा अपने मूल प्रधान कारण में लीन हो जाता है।

प्रत्यक्ष है कि यह जगत् परिवर्तनशील, विकारी अत-एव विविध प्रकार का है। कभी कारणरूप कभी कार्यरूप में प्रकट होता रहता है। जड़ चेतन दोनों सत्ताएँ नित्य है। जड़ साम्यावस्था कारणरूप से विषमावस्था कार्य रूप होता है तो किसी चेतन सत्ता के निमित्त से होता है। अन्यथा नियमपूर्वक कभी नहीं हो सकता। जड़ सत्ता में संयोग, वियोग दोनों प्रकार की स्वाभाविक शक्ति नहीं पाई जाती है। कार्य किसी नैमित्तिक कारण का सूचक है। यदि चुम्बक में अपनी ओर लोहे को खेंचने की स्वाभाविक शक्ति हो तो बिना वैभाविक अन्य शक्ति के परे नहीं हट सकता। संयोजक बिना मिलाप की अवस्था बनती रही। संयोगज अवस्था अनित्य हुआ करती है। ऐसे ही वियोगज भी। यह कहना निराधार नहीं है कि कोई चेतन शक्ति जड़ में प्रेरक है। प्रमाण

''**तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्**'' (ऋ० १० ।८२ ।४) अर्थात् (तत्) उस उपादान जड़ पर (यत् अधि अतिष्ठित्) जो अधिष्ठाता=अध्यक्षवत् विराजता है वही परमेश्वर (भुवनानि धारयन्) लोकों को धारण करता है। ''तद्देजति'' (यजु: ४० ।५) वही परमात्मा जड़ को कंपन देता=प्रेरणा करता है।

प्रश्न-क्यों जी! इससे तो यह प्रतीत होता है कि वह उपादान कारण में विद्यमान नहीं है। अतएव सर्वव्यापक भी नहीं।

उत्तर-वह परमेश्वर बाहर भीतर सब स्थानों पर है देखियेगा-''**इयं मे नाभिरिह मे सधस्थम्**'' (ऋ० १० ।६१ ।१९) अर्थ-(इयम्) यह प्रकृति (मे नाभि:) मेरा आश्रय (इह मे सधस्थम्) इसमें ही मेरा अन्य जीवात्माओं के साथ रहने का स्थान है। मानों एक प्रकार से यह प्रकृति अलंकार रूप में शरीर-वत् है।

''**यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्व: स्वाया:**'' (ऋ० १० ।५४ ।३) माता-पिता अर्थात् नर-नारी वर्ग दोनों, तुझ परमेश्वर को (साकम्) एक साथ (स्वाया: तन्व:) अपने प्रकृति रूपी देह में से (अजनयथा:) उत्पन्न करने होते हैं।

स्वीकार्य ही है कि जड़=उपादान कारण स्वयं सुव्यवस्थित प्रबंधक के बिना कार्य रूप में नहीं आ सकता। यदि कोई न माने तो पानी, आटा, लकड़ी, अग्नि आदि के भिन्न भिन्न रहते हुए बिना प्रयत्न के कर्ता अपना पेट भर कर दिखलावे अथवा रंग, ब्रुश, आधारपत्र, भित्ति होते हुए स्वयं चित्र बेल बूँटा बना हुआ दिखला दे। साधारण घटनाओं के निमित्त भी बिना चेतन शक्ति कार्य नहीं बनते तो भला यह विश्व, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ब्रह्माण्ड कैसे बन कर तैयार हो सकते हैं? मानना उचित है कि यह पक्ष एक अत्यन्त युक्ति शून्य और हीन ही है। भला कोई पूछे कि बिना माता पिता रुपी सांचे के सन्तान रुपी सिक्के किस कारखाने की पौद हैं? कोई अपने मन को प्रसन्न करने को कह ले कि सूर्य, चन्द्र आदि जड़, परमाणुओं में स्वाभाविक संयोग शक्ति से बन गये तो विचारणीय विषय बना रहता है कि संयोग सामर्थ्य के होते हुए ये इतनी दूरी पर क्यों? यह केवल प्रस्तावरूपेण बताया गया। संसार के सामने प्रश्न रखा हुआ है:-

(१) सृष्टि को परमेश्वर ने किस वस्तु से किस समय और किस लिये बनाया?

(२) ईश्वर सब में व्यापक है या नहीं?

(३) ईश्वर-न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है?

(४) वेद के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है?

और (५) मुक्ति क्या है और किस प्रकार मिल सकती है?

आस्तिकों में भी एक पक्ष कहता है कि केवल एक मात्र सर्वशक्तिमान् सत्ता थी। उसने निजी सामर्थ्य से जगत् को रच डाला। यदि उस शक्ति का जग रचने का स्वभाव नहीं है तो इस चेष्टा का प्रेरक कौन है? वह प्रेरक नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो असंख्य बार रचते रहना चाहिये। यदि अनित्य है तो कहां से आ उपस्थित है? शक्तियों के प्रभाव का किसी आधार पर पड़ना आवश्यक है। तो केवल एक मात्र शक्तिमान् सत्ता की शक्तियों का प्रभाव किस आधार पर पड़ता रहता है? यदि कहो कि नित्य आधार तो कोई नहीं है। तो उस शक्तिमान् की शक्तियों का सिद्ध होना असंभव हो जाता है। इसलिये यह पक्ष सत्य नहीं। बुद्धि को स्वीकार नहीं। यदि कोई अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या मानने वाला यह कह भी दे तो चेतन से चेतन सत्ता का बनना कार्य कारण दो रूपों में एक सत्ता को मानना युक्ति शून्य और अनवस्थादोष का कारण बनता है। कार्य अनित्य होता है। सो बुद्धिपूर्वक तथा युक्तियुक्त पक्ष सत्य यही है कि परमेश्वर अपनी सत्ता से भिन्न स्वयंसिद्ध नित्य सामग्री को प्रयोग में लाता रहता है और संसार को रचता, धारण करता तथा प्रलय करता रहता है।

प्रश्न: तो उस जड़ सामग्री का क्या प्रमाण है?

उत्तर-उस जड़ सामग्री का नाम तम, स्वधा, सलिल, अजा, पिशङ्गिला, वृक्ष आदि कहाता है।

आप:-(१) ''**तमिद् गर्भम्प्रथमन्दध्र आपोयत्र देवा: समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभौवध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थु:**'' (ऋ० १० ।८२ ।६ व यजु० १७ ।३०) अर्थ-(यत्र) जिस ब्रह्म में (आप:) कारण मात्र प्रकृतित्त्व (प्रथमम्) अनादि (गर्भे) प्रकृति को (दध्रे) धारण करते हुए (विश्वे देवा:) सब शुद्ध आत्मा (समगच्छन्त) मिलते हैं (अजस्य) अनुत्पन्न अनादि के (नाभौ) बीच में (अधि) सर्वाधिष्ठाता (एकम्) एक अद्वितीय (अर्पितम्) स्थित है (यस्मिन्) जिसमें (विश्वानि भुवनानि) सब लोक (तस्थु:) विद्यमान हैं। (तमित्) उसी को ब्रह्म जानो।

(२) ''**आपो ह यद् बृहती र्विश्वमायन्गर्भेंदधाना जनयन्तीरग्निम्**'' (ऋ० १० ।१२१ ।७) अर्थ-(यत्) जो (विश्वम्) व्यापक (ह) सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व (बृहती: आप:) बड़ी आप:=प्रकृति की महत् विकृतियाँ (आयन्) प्राप्त (गर्भे दधाना:) गर्भ= हिरण्यमय अण्ड को धारती हुई अग्निम्) अग्नि तत्त्व को (जनयन्ति) प्रकट करती हैं। सर्गारंभ से पूर्व ईश्वर की समकालीन भिन्न सत्ता ''अम्भस्= अप्भस्''-गहनं गभीरं अम्भ: आसीत् (ऋ० १० ।१२९ ।१) अर्थात् गहन जिसमें किसी पदार्थ का प्रवेश न हो सके ऐसा ''आप:'' तत्त्व विद्यमान था। कुरान शरीफ वालों को सूरह मोमनून आयत तेरहवीं में सुलैत: की माहियत पर वैदिक तत्त्व= ''सलिलम्'' सलिल= व्यापक गतिमत् तत्त्व से तुलना करनी उचित है (ऋ० १० ।१२९ ।३)।

तमस्-''**अग्ने तम: आसीत्**''= सर्ग से पूर्व तमस् था वह सब (तमसा गूढ़म्) तमस् से व्याप्त था।

पिशङ्गिला-''**अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरु पिशङ्गिला**'' (यजु: २३ ।५६) अर्थात् (अरे) हे नर! (अजा) जन्मरहित प्रकृति (पिशङ्गिला) कार्य रूप जगत् को प्रलयकाल में निगलने वाली है।

स्वधा-''स्वधया तदेकम्'' (ऋ० १० ।१२९)।(२) अर्थात् (तत्) वह (एकम्) एक परमेश्वर था स्वधा शक्ति के साथ।

जिस प्रकृतिरूपी ''वृक्ष'' का वर्णन महर्षि दयानन्द जी महाराज ने ऋ० १ ।१६४ ।२० के आधार पर दो भिन्न भिन्न चेतन सुवर्ण सत्ताओं के सम्बन्ध में किया है उसी की व्याख्या बाईसवें मन्त्र में स्पष्ट की गई है कि-

वृक्ष-''**यस्मिन्वृक्षे मध्वद: सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे। तस्येदाहु: पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्य: पितरं न वेद**'' अर्थात् जिस जड़ प्रकृति रूप वृक्ष पर (मध्वद:) मीठे कर्म फलों का स्वाद लेने वाले (सुपर्णा:) ज्ञानी जीव गण (निविशन्ते) आधार पाते और (अधिसुवते च) सन्तति उत्पन्न करते

(शेष पृष्ठ 7 पर)

सम्पादकीय

वैदिक जीवन पद्धति अपनाओ, सदा सुख पाओ

विनाश का अवतरण तब होता है जब समाज धर्म से मुँह मोड़कर कोरे विज्ञान की तरफ झुकता है। मानव जीवन में उत्थान और उसे सुखमय बनाने का यदि कोई सर्वोत्तम साधन है तो वह है धर्म। धर्म वह शीतल जल है जो इस मानव जीवन रूपी वृक्ष को हरा-भरा रखता है तथा उसे पुष्पित तथा फलित बना देता है जिस के मधुर तथा स्वादिष्ट फलों का आश्वादन कर वह स्वयं भी सुख पाता है और अपने मधुर तथा स्वादिष्ट फलों द्वारा राष्ट्र को भी सुखमय बना देता है। इसके विपरीत धर्महीन मानव का जीवन नीरस और फीका है। स्वयं सुख शांति को प्राप्त करना तथा विश्व में सुख शांति का साम्राज्य करना मानव जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। किन्तु यह लक्ष्य तभी पूर्ण हो सकता है जबकि वह धर्म परायण बने। धर्म मनुष्य को विलासितामय जीवन से हटाकर उसे संयमी और सदाचारी बना देता है। सम्प्रदायों को अपना धर्म मानकर जब मनुष्य धर्म की अवधारणा लेकर ईर्ष्या द्वेष बांटता है। भौतिक उन्नति को ही सर्वोपरि समझ लिया जाता है और बिना सदाचार के पतनोन्मुख होता है। भौतिकवादी दर्शन जीवन स्तर में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाता प्रतीत होता है परन्तु शीघ्र ही चारित्रिक पतन के कारण सारी उपलब्धियां निरर्थक हो जाती हैं। भय तथा अपराध बढ़ते हैं, परिवार में बिखराव होता है। कला के स्थान पर नग्नता तथा अनाचार बढ़ता है। समाज एवं राष्ट्र विनाश के कगार पर खड़े होते हैं। ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या तथा दृश्य जगत ही सत्य है। यह मान्यता ही हमारे वैदिक दर्शन और संस्कृति पर प्रहार करते हैं। जो भी सभ्यता संस्कृति विहीन होती है वह शीघ्र ही अपने क्षितिज पर अस्त हो जाती है। वैदिक संस्कृति पर आधारित सभ्यता ही हमारी प्रगति का मूल स्रोत है। विश्व की प्रथम संस्कृति सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा द्वारा ही हमने उपदेश पाया। मनुर्भव मानव बनो और देवताओं का निर्माण करो। आज विज्ञान और प्रगति की इस शीघ्रगामी दौड़ में मनुष्यता समाप्त हो गई है। मनुष्य कहीं दिखता ही नहीं। हर जगह हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सम्प्रदायों में बंटे हुए मनुष्य दिखाई देते हैं परन्तु कोई सच्चा मनुष्य कहीं दिखाई नहीं देता। जिसके अन्दर मानवता के गुण भरे हों, जो दूसरों के दु:ख को अपना दु:ख समझे। शास्त्रों के अनुसार वही मनुष्य हो सकता है जो अपने कार्यों को सोच विचार करके करता है। हमारे ऋषियों व मनीषियों ने मनुष्य निर्माण को सर्वोपरि माना एवं वेदों में मनुष्य बनने का उपाय क्या है? सर्वांगीण प्रगति का मार्ग क्या है? इस विषय पर गम्भीर चिन्तन किया गया है। स्वस्ति पन्था मनुचरेम मनुष्य कल्याण के मार्ग पर चले परन्तु सोचने का विषय तो यह है कि कल्याणकारी मार्ग कौन सा है? ज्योतिष्मत: पथो रक्ष धियाकृतान वेद ने इसका समाधान बताया कि प्रकाश के मार्ग पर व्यक्ति चले और अपनी बुद्धि से उसकी रक्षा करे। आने वाले पथिकों के लिए इस मार्ग को प्रशस्त करे। ज्ञान का मार्ग ही, अध्यात्म का मार्ग ही जीवन के कल्याण का मार्ग है, बुद्धि एवं तर्क से निर्मित मार्ग है। ज्ञान का मार्ग मित्रता का मार्ग है। मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षन्ताम्।

विश्व में सभी प्राणी मेरे दृष्टिकोण में मित्र हैं, उन्हें अपने ज्ञान के चक्षुओं से मित्र की दृष्टि से देखूं, कोई शत्रुता का भाव मेरे अन्दर न आए क्योंकि हम सभी एक ही पिता की सन्तान हैं। जो अमृत है, विष का वहां क्या प्रयोजन। महर्षि दयानन्द के चिन्तन के अनुरूप एक ईश्वर एवं धर्म, एक भाषा, एक राष्ट्र का आधार रहे तो भय समाप्त हो जाएगा, द्वेष मिट जाएगा, लोभ मोह का अज्ञान हमेशा के लिये छंट जाएगा। ऐसा उदार दृष्टि व चिन्तन मनुष्य को तब मिलेगा जब वह वेदों की ओर मुड़ेगा। यदि हम वैदिक चिन्तन को आधार मान कर राष्ट्र के लिए संकल्पित हो जाएं तब ही राष्ट्र की प्रगति सम्भव है। मन, वचन और कर्म से सत्य का आचरण, वीरता, सैन्य शक्ति, सत्य ज्ञान, वेदाध्ययन, तप, प्रकृति के नियमों को बोध राष्ट्र की उन्नति के साधन हैं। भौतिक पदार्थों का उत्पादन जिससे विश्व का कल्याण हो, यह भी एक यज्ञ है। यत्र ब्रह्म च क्षत्रं सम्यञ्चौ चरत: सह अर्थात् जिस राष्ट्र में विद्या और वीरता दोनों की एक साथ पूजा होती है वहां शास्त्रों के गायन के साथ शस्त्रों की झंकार भी होती है, वह राष्ट्र हमेशा उन्नति के शिखर पर विराजमान रहता है। हमारे अन्दर संगच्छध्वं संवदध्वं की भावना बलवती हो। विचारों की समानता ही प्रगति का आधार है। हमने अपने जीवन का आधार भोग को नहीं त्याग को बनाना है। तभी हम मनुष्य कहला सकते हैं। यज्ञ शेष ही हमारा है, हमने इदन्न मम की भावना लेकर ही यज्ञ करना हैं। जीवन का लक्ष्य यदि यह बन जाए कि संसारिक सुख अल्प सुख हैं, आध्यात्मिक सुख सदा बना रहने वाला है तो हमें कोई भी लोभ अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। हम यदि इन्द्रियों के स्वामी बन जाए तो कोई भी विषय हमें आकृष्ट नहीं कर सकता क्योंकि विषय ही तो मनुष्य के सर्वनाश का कारण है। विषयों की ओर मन भटका तो हमारा पतन निश्चित है। भौतिकवाद के बढ़ते चरण ने ही मनुष्यों को विषयों से बान्ध रखा है। बुद्धि विनाश के कारण ही हम आज विरोचन बन गए है। जीवन का उत्थान तब सम्भव है जब हम अपनी मर्यादा में रहकर श्रेष्ठ कर्म करेंगे। आज हम अपना मार्ग ही भटक गए हैं। समाज में कुछ स्वार्थी तत्वों के फैलाए जाल के कारण हम मनुष्यता से गिर गए है। पाखण्ड़ और अन्धविश्वास के अंधेरे में कहीं खो गए हैं। हमारे अपने ही लोगों ने षड्यन्त्र कर हमें मार्ग से भटकाया है। वेदों से दूर करने में भी इनकी अहम भूमिका रही है। विद्या के क्षेत्र में स्त्री और शूद्रों को वंचित किया गया ताकि समाज में विषमता आए। बालक जो समाज का आधार होते हैं वे जननी से प्रारम्भिक संस्कार न प्राप्त कर सकें। विडंबना यह रही है कि ज्ञान को छोड़कर हमने भौतिकवादी आकर्षण में फंसकर अपने कल्याण के मार्ग को छोड़कर पतन के रास्ते को ही सही रास्ता मान लिया है। हम जातिवाद के बन्धनों में बंधकर स्वयं एक दूसरे के शत्रु बन बैठे। एक लम्बे अन्तराल के बाद युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने वैचारिक क्रान्ति का शंखनाद किया। महर्षि दयानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने किसी के साथ भी असत्य के नाम पर सहयोग नहीं किया न असत्य का मंडन किसी भी लोभ के वशीभूत होकर किया। ऋषि दयानन्द जी ने भारतीय संस्कृति के प्राण रहे वेदों की और चलने की और प्रेरित करने का हर संभव प्रयास किया। यह वही विधि थी जिसके कारण मेरा भारत महान था। क्योंकि देश की संस्कृतियों को जीवित रखने का कोई सबल, सशक्त, प्राणवान विचार नहीं है। विदेशी संस्कृति व पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से आज मनुष्य के अन्दर श्रेष्ठ मानव बनने की भावना समाप्त हो गई हैं। आज का मानव भौतिक चकाचौंध में इस तरह भटक गया है कि उसका ध्यान इन बातों की ओर जाता ही नहीं। जितने भी सुख के साधन परमात्मा ने मनुष्य को अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए प्रदान किए थे, उन्हीं साधनों का दुरूपयोग करता हुआ मनुष्य भोग और विलास में फंसा हुआ है। परिणामस्वरूप आज वे सभी बुराईयां हमारे राष्ट्र के अन्दर फैल रही हैं जिन्हें दूर करने के लिए महर्षि दयानन्द तथा अन्य समाज सुधारकों ने प्रयत्न किया था। अपने राष्ट्र को बचाने के लिए तथा श्रेष्ठ मानव का निर्माण करने के लिए हमें महर्षि दयानन्द की विधि को अपनाना पडेगा। शारीरिक उन्नति और आत्मिक उन्नति होने से ही मनुष्य सामाजिक उन्नति कर सकता है। इसलिए अगर हम भी अपने आप को, अपने बच्चों को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं तो हमें भी महर्षि दयानन्द की संस्कारविधि के अनुसार प्रक्रिया को अपनाना पडेगा, स्वयं भी श्रेष्ठ आचारयुक्त, श्रेष्ठ व्यवहारयुक्त तथा चरित्रवान बनना पड़ेगा। हम यदि वैदिक जीवन पद्धति अपनाएंगे तभी अपने बच्चों के अन्दर अच्छे संस्कार पैदा होंगे।

प्रेम कुमार
संपादक एवं सभा महामन्त्री

मोक्षप्राप्ति के उपाय

ले.-श्री पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री

मोक्ष के साक्षात् साधनों का वर्णन ऋग्वेद के कई सूक्तों में उपलब्ध होता है, एक स्थान पर तो मोक्ष का सांगोपांग और पूर्ण वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। आज हम एक छोटा सा प्रकरण, विचार के लिये प्रस्तुत करते हैं जिसमें मुमुक्षुत्व पर बल दिया गया है और त्याग के महत्व पर ध्यान को आकर्षित किया गया है, बात यह है कि जब तक मोक्षप्राप्ति की सच्ची अभिलाषा न हो और दु:खदायी बन्धनों को तोड़ फैंकने की शक्ति न हो तब तक मोक्ष की चर्चा का कोई मूल्य ही नहीं है, जो लोक दु:ख से दु:खित हुए दु:ख के कारणों का समूल उन्मूलन करने के लिये सर्वथा उद्यत हों और सच्ची शान्ति तथा परम सुख को प्राप्त करने के लिये सिरधड़ की बाजी लगाये बैठे हों ऐसे त्यागी मुमुक्षुजनों के कल्याण के लिये ही वेद का उपदेश, कर्त्तव्य पथ का प्रदर्शन करता है। ऋग्वेद के ८९वें सूक्त में इसी प्रकार के परमहितकारी उपदेश हैं।

इस सूक्त के चार मन्त्रों के अन्त में ''मृडा सुक्षत्र मृडय'' यह वाक्य दोहराया गया है, अर्थात् हे सुख स्वरूप सच्चे संरक्षक प्रभो! मुझे भी सुखी करो।

पहला मन्त्र इस प्रकार है।

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।

मृडा सुक्षत्र मृडय।।१।।

(१) राजन्! वरुण! हे परमेश्वर आप राजा हो आप का शासन महान् है। आप के राज्य नियमों को तोड़कर कोई भी व्यक्ति सुख और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवन् आप वरुण भी हो। चाहे कोई कितना भी आप से विमुख क्यों न हो, एक न एक दिन उसे आप की सत्ता के आगे सिर झुकाना ही पड़ता है। यह हो नहीं सकता कि आप की पावन शरण में आये बिना किसी को शान्ति प्राप्त हो सके। आप दु:खों तापों और क्लेशों से सदा दूर रहते हो अतएव अपनी शरण में आने वाले भक्तों के भी ताप सन्ताप दूर करते हो, मैं भी आपकी शरण में आया हूँ।

हे वरुण! दु:ख निवारक प्रभो! प्रार्थना है कि-

(२) **अहम् मृन्मयं गृहं मा उ सुगमम्**-

मैं मिट्टी के बने इस शरीर रूपी घर को कभी भी सुखदायक समझ कर न प्राप्त करूं।

यह शरीर मिट्टी का है और मिट्टी में ही मिल जाता है। जो लोक इसके इस मृन्मय रूप को न समझ कर इसे ही अपनी आसक्तियों का केन्द्र मान बैठते हैं उनको भी यह मिट्टी में मिला देता है।

परमेश्वर को वरणीय सच्चा वर, वही स्वीकार कर सकता है जो शरीर की आसक्ति से परे हट चुका हो, जिसको शरीर का वास्तविक मृन्मय स्वरूप समझ में नहीं आया वह स्वप्न में भी ईश्वर का वरण नहीं कर सकता।

एक ओर दु:खों क्लेशों से दूर रहने वाला दु:खनिवारक भगवान् वरुण है। दूसरी ओर दु:खों की खान मिट्टी का शरीर है। यमाचार्य के शब्दों में एक ओर प्रेयस् है दूसरी ओर श्रेयस् है। हमने दोनों में से एक को वरण करना है और वरण करके अपनी बुद्धि का भी परिचय देना है। किसी ने कहा है-मनुष्य का यह देह क्या है जिस पै फूला है जहां।

खून का गारा है इसमें और ईंटे हड्डियां।

एक मिट्टी की इमारत एक मिट्टी का मकां।।

मौत की विकराल आंधी इससे जब टकरायेगी।

देख लेना, यह इमारत धूलि में मिल जायेगी।।

यह धूलिसात् और भस्मसात् हो जाने वाला सदा परिवर्तनशील दु:खों का एक मात्र आश्रय यह शरीर, सुन्दर चमकीली और प्यारी काया के रूप में हमारे पास है, हम इसके वास्तविक स्वरूप को न देखकर बाह्य सौंन्दर्य पर लट्टू हो रहे हैं और इसके भोगों में आसक्त होकर रोगों में जकड़े पड़े हैं परन्तु फिर भी इस मिट्टी के घर को ही सर्वस्व समझ रहे हैं।

इस सूक्त का ऋषि वसिष्ठ है हम लोगों की अवस्था से वह व्यक्ति बहुत ऊँचा उठा हुआ है। उसकी दृष्टि बड़ी विशाल है। उसका तत्त्व दर्शन वास्तविकता पर अवलम्बित है और इसीलिये वह ऋषि है। उसने दोनों में से एक को-वरुण को चुन कर अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया है, वह शरीर के मोहनीय और शोभनीय रूप पर आसक्त नहीं हुआ। उसने शरीर पर एक दृष्टि डाल कर ही कह दिया था कि अरे मिट्टी के मैले कुचैले शरीर! चल दूर हो मेरी आंखों से, मैं तेरे साथ नहीं रहूँगा, तू मिट्टी का है मैं चेतन हूँ, तू उत्पत्ति विनाश वाला है और मैं अज अविनाशी अमर तत्त्व हूं-तेरा मेरा कैसा मेल, तेरा मेरा कैसा साथ? मैं तो अविनाशी चेतन प्रभु के साथ रहूँगा।

उच्चकोटि का तत्त्वदर्शी ही ऐसा कह सकता है। जिस व्यक्ति ने काल के विकराल गाल में प्रति दिन समाते चले जाने वाले अज्ञानी समाज को दु:ख दारिद्रय और दुरित की दुरावस्था में दु:खी होते देखा और स्वयम् भी अनुभव किया वह शीघ्रातिशीघ्र दु:खों की खानि से निकल कर दु:ख निवारक भगवान् वरुण की शरण में आया और वैदिक दृष्टि से वही वसिष्ठ कहलाया। योग दर्शन के आविष्कारक महामुनि पतञ्जलि ने इस तत्त्व का साक्षात्कार किया था और सर्व साधारण को प्रेरणा की थी कि-

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगदर्शन।

अर्थात् इस शरीर को जितना भी शुद्ध किया जावे इतना ही इससे घृणा उत्पन्न होती है और दूसरे शरीरों को भी स्पर्श करने की इच्छा नहीं रहती।

इतने पर भी जो लोक काया के गीत गाया करते हैं वे व्यासभाष्य में लिखे योगी जनों के तत्त्व दर्शन का मनन करें, भाष्यकार व्यास देव जी कहते हैं कि-

स्थानात् बीजादुपष्टम्भात् स्यन्दनान्निधनादपि।

कायमाधेयशौचत्वाात् पंडिता ह्यशुचिं विदुः।।

स्थानात्-इस शरीर की रचना माता के गर्भ में होती है और गर्भ स्थान चारों ओर मल मूत्र से घिरा हुआ है।

बीजात्-शरीर का बीज, पिता का वीर्य और माता का रजस् हैं।

ये दोनों भी अपवित्र हैं अत: अपवित्र कारणों से हुआ शरीर भी अपवित्र ही है।

उपष्टम्भात्-शरीर का आधार अस्थियें, मांस, रुधिर और मज्जा मेदस् आदि हैं। यदि ये न हों तो शरीर का भवन कभी स्थित नहीं रह सकता। ये भी अपवित्र ही है।

स्यन्दनात्-शरीर के अंगों से जो तत्त्व बाहर निकलता है वह भी अपवित्र ही है यथा-मल, मूत्र, स्वेद, कफ, सिनक आदि।

निधनात्-अन्त वेला में मृत्यु हो जाने पर शरीर की अपवित्रता सर्वथा स्पष्ट हो जाती है, यदि अग्नि में भस्म न करें तो थोड़ी ही देर में दुर्गन्धित हो जाता है तथा कीड़े पड़ जाते हैं।

इस प्रकार अस्थि मांस के विकार मृन्मय शरीर को ही जो लोक ममता और अपनी आसक्ति का केन्द्र बना लेते हैं, वे वरुण से विमुख होकर कष्ट पर कष्ट उठाते हैं-

(२) **सुक्षत्र मृडय**-हे भगवान् आप भली भांति संरक्षण कर सकने में समर्थ हो, कृपा करो मुझे दु:ख से निकाल कर सुखी करो।

जो व्यक्ति शरीर की आसक्तियों से परे हट जाता है-परमेश्वर उसके दु:खों को दूर कर देता है। सुन्दर और बढ़िया तथा अत्युत्तम संरक्षण उसी ज्ञानी को प्राप्त हो सकता है जो मृन्मय गृह की आसक्ति का त्याग करके भगवान् वरुण का वरण करने में विलम्ब न करे।

मन्त्र कहता है कि जब तक शरीर सम्बन्धी अज्ञान में आसक्त रहोगे, तब तक परमेश्वर के सुदृढ़ संरक्षण और निरतिशय आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकोगे।

दूसरा मन्त्र और भी अधिक आवश्यक कर्त्तव्य की ओर संकेत करता है-

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्नध्मातो अद्रिवः।

मृडा सुक्षत्र मृडय।।२।।

हे अद्रिव-पर्वतों के स्वामिन्! मैं दृति के समान फूल कर अभिमान

(शेष पृष्ठ 5 पर)

पृष्ठ 4 का शेष-मोक्षप्राप्ति के उपाय

में चूर हुआ फिर रहा हूं। हे रक्षक प्रभो मुझे सुखी करो।

(४) दृतिः ध्मातः न-जैसे चर्म की बनी हुई फुटबाल आदि वस्तु थोड़े से वायु या जल को पाकर फूल जाती है और ठोकरें खाती है वैसे ही-

(५) **यत् प्रस्फुरन् इव एमि**-मैं भी फूला फूला फिर रहा हूँ। अहंकार के कारण फूं फूं कर रहा हूँ।

चर्म के बने हुए फुटबाल या गेन्द में वायु भर जाती है तो वह अपने स्थान से हिल जाता है और थोड़ी सी क्रिया से गति मान् होकर कहां का कहां ठोकरें खाता है। वैसे ही मनुष्य भी अभिमान में चूर होकर बड़े बड़े उत्पात मचाता है और अनेक प्रकार की दुर्गति को प्राप्त करता है, संसार का इतिहास रावण, दुर्योधन तथा सिकन्दर जैसे अहंकारियों के कुकृत्यों और उनके भयंकर परिणामों से भरा पड़ा है।

मन्त्र कहता है कि वास्तविक सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब अहंकार और अभिमान को त्याग दिया जावे। त्यागने का उपाय भी मन्त्र बता रहा है। पहिला उपाय तो यह है कि पूर्ण गम्भीरता के साथ हम यह चिन्तन करें कि फुटबाल या मशक के समान फूल जाने से ठोकरें और दुर्गति ही प्राप्त होती है अतः अहंकार नहीं करना चाहिये। दूसरा उपाय है परमेश्वर की महिमा का चिन्तन करना यथा-

(६) **अद्रिव!** हे परमेश्वर आप का ऐश्वर्य महान् है आप सकल ब्रह्माण्ड के स्वामी हो। चाँदी, सोना और हीरे मोती आदि बहुमूल्य पदार्थ पर्वतों के गर्भ में निवास करते हैं। इन सब पर्वतों का एकमात्र स्वामी अद्रिवान् भगवान् है। पर्वतों के अधिपति परमेश्वर में तो सुवर्णादि के अनन्त भण्डार होते हुए भी यत्किंचित् क्षोभ की मात्रा तक नहीं है परन्तु मनुष्य कहलाने वाला प्राणी परिमित धन सम्पत्ति को प्राप्त करके ही अहंकार की मूर्ति बना फिरता है। ऐसे अहंकारी और अभिमानी को सोचना चाहिये कि परमेश्वर के सामने मेरी क्या अवस्था है। ऊँट अपने को बड़ा ऊँचा और दूसरों को नीचा समझता है परन्तु जब वह गगनचुम्बी शिखरों वाले पर्वतराज की तलहटी में पहुँचता है तो उसका अभिमान चूर चूर हो जाता है। परमेश्वर के सामने मनुष्य की भी यही अवस्था होती है।

अद्रिव का दूसरा अर्थ यह भी है कि-परमेश्वर किसी भी परिस्थिति में द्रवीभूत या विचलित नहीं होता है। जो मनुष्य इस गुण को धारण कर लेता है वह भी निरहंकार होकर शान्ति प्राप्त कर सकता है।

वह व्यक्ति अपने आप को कैसे सुरक्षित और सुखी समझ सकता है। जिसके पीछे अहंकार जैसा बलवान् शत्रु लठ्ठ लिये फिरता हो। इसलिये मन्त्र कहता है कि अहंकार को भी अपना शत्रु समझो और उससे बचने के लिये अहंकार को चूर चूर कर देने वाले परमेश्वर की शरण ग्रहण करो।

तीसरा मन्त्र तीसरे दोष को दूर करने की प्रेणा करता है यथा-

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय।।३।।

हे महनीयकीर्ते! शक्तिहीन और दीन होने के कारण मैं अपने उद्देश्य से भ्रष्ट हो चुका हूँ। आप मुझे पवित्र करो हे महान् संरक्षक प्रभो मुझे सुखी करो।

(७) **समह!** हे महिमामहान् भगवन्! देखिये, दीनता ऋत्वः प्रतीपं जगमा-मैं आत्मविश्वास से हीन होने के कारण कर्त्तव्य पथ से भ्रष्ट हो चुका हूँ और अपने उद्देश्य से विपरीत जा रहा हूँ।

मनुष्य जन्म किस लिये मिला था और इसको प्राप्त करके क्या करना कर्त्तव्य था-इस पर कुछ भी हमने विचार नहीं किया अपितु अपने उद्देश्य से विपरीत दिशा में ही चलते चले गये। हमको अपनी गुप्त शक्तियों का कभी ध्यान भी नहीं आया और हमने अपने उद्धार का कभी संकल्प भी नहीं किया। दीन हीन और क्षीण होकर तिनके के समान वायु के झोंके के संकेत पर इधर उधर नाचते रहे। सदा परमुखापेक्षी पक्षी के समान पराधीन बने रहे।

मन्त्र कहता है इस दीनता और शक्तिहीनता का त्याग करो और आत्मविश्वास की भावना से भरपूर होकर अपने बन्धनों को स्वयं काटो, अपने परों को स्वयं हिलाओ और पुरुषार्थ करके सुख के धाम परमेश्वर के पास पहुँचो, यह मत समझो कि कोई तुझको अपने कंधे पर बिठा कर वहाँ पहुँचा देगा-वहाँ अपने आप और केवल अपने बल पर ही पहुँचा जाता है। श्री कृष्ण जी ने कहा था-

''उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मा-नमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।गीता।।

अपने आप का उद्धार करो, किसी दूसरे के द्वारा तुम्हारे आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। अपना आप ही अपना बन्धु है और अपना आप ही अपना शत्रु है।

आत्मनिर्भरता और आत्म-विश्वास का महत्व समझा कर वेद एक और उपदेश देता है जो चौथे मन्त्र के द्वारा कहा गया है।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदञ्जरितारम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय।।४।।

मैं अथाह जल के मध्य में खड़ा हुआ हूँ फिर भी मुझ स्तोता भक्त को प्यास लगी हुई है। हे संरक्षक प्रभो मेरी रक्षा करो। आनन्द स्वरूप भगवन् मुझे शान्ति प्रदान करो।

(८) **अपां मध्ये तस्थिवांसम् जरितारम् तृष्णा आविदत्**-

मैं प्यासा हूँ और अपनी पिपासा को शान्त करने के लिये परमेश्वर से पानी माँग रहा हूँ। एतदर्थ परमेश्वर की अनेक प्रकार की स्तुति प्रार्थना और उपासना भी कर रहा हूँ फिर भी मुझे सुख शान्ति प्राप्त नहीं होती। आश्चर्य यह है कि प्यास को दूर करने वाला और सुख शान्ति का सागर मेरे चारों ओर लहरें मार रहा है।

मंत्र कहता है अज्ञान की कितनी विचित्र करामात है-थैला कंधे पर है और ढँढोरा नगर में पीटा जा रहा है। ''पानी में मीन प्यासी'' वाली बात है।

सबसे दुःखदायक घटना तो यह है कि परमेश्वर की सत्ता स्पष्ट है और उस पर विश्वास नहीं जमता, दुःख निवारक पास खड़ा है और उसका विचार न करके घोर क्रन्दन किया जा रहा है।

मन्त्र कहता है अरे ओ दुःखी प्राणियो! क्यों बिलख बिलख कर और सिर पीट पीट कर रो रहे हो! दुःख दूर करने वाला आनन्दधन प्रभु तो तुम्हारे पास विराजमान है।

वास्तविक सुख और सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिये वेद ने जो उपाय समझाये हैं उनमें ये चार ही मुख्य हैं-

(१) मृन्मय शरीर में आसक्ति का त्याग। (२) अभिमान का त्याग। (३) दीनता का त्याग और चौथे नास्तिकता का त्याग।

उपनिषत्कार मुनिजनों ने इसी को संक्षेप में कहा था-त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः अर्थात् एकमात्र त्याग के द्वारा ही मोक्ष या सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये। छांदोग्य।

इसको तभी तक देरी है जब तक यह त्याग नहीं करता-त्याग करते ही आनन्द की सम्पत्ति तत्काल प्राप्त हो जाती है।

आर्य मर्यादा के ग्राहक महानुभावों की सेवा में

आर्य मर्यादा साप्ताहिक निरन्तर आपकी सेवा में पहुंच रही है। जिन आर्य मर्यादा के ग्राहकों ने अभी तक अपना वार्षिक शुल्क या पिछला शुल्क नहीं भेजा है उनसे विनम्र प्रार्थना है कि वह अपना वार्षिक शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। आर्य मर्यादा का वार्षिक शुल्क मात्र 100/- रुपये है और आजीवन सदस्यता शुल्क 1000/- रुपये है। इसलिये मेरी सभी ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना है कि वह अपना शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। इसके साथ ही आर्य समाजों के पदाधिकारियों एवं सदस्यों से भी निवेदन है कि वह अधिक से अधिक आर्य मर्यादा के ग्राहक बनाने में सहयोग करें। आशा है आप का सहयोग हमें प्राप्त होगा।

-व्यवस्थापक आर्य मर्यादा

कर्म का सिद्धान्त

ले.-श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय

(गतांक से आगे)

क्या केवल एक ही सत्ता मानकर आप इस प्रपञ्च की व्याख्या कर सकते हैं। यदि आप अपनी सृष्टि बनाना चाहें तो जिस प्रकार हो सके अपने मन की संतुष्टि कर लें। परन्तु यदि इस वर्तमान सृष्टि के मूलाधार में जो तत्त्व हैं उनकी खोज करना चाहते हैं तो आपको इस परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि जीव एक अनादि अजन्मा सत्ता है। उसी के लिये सृष्टि रची जाती है। यदि जीव अल्पज्ञ न होता तो भी सृष्टि की आवश्यकता न होती यदि अनादि न होता तो न जीव के निर्माण की आवश्यकता थी न सृष्टि की। यदि सर्वज्ञ ईश्वर न होता तो सृष्टि को जीवों की आवश्यकताओं की अपेक्षा से बताता कौन। अन्यान्य धर्म वालों ने जो ईश्वर से इतर किसी सत्ता को अनादि और अमर मानना ईश्वर का अपमान समझते हैं ईश्वर का स्वरूप भी अपने मन से घड़ा और सृष्टि का स्वरूप भी। अपने स्वरूप को तो वह भूल ही गये। उन्होंने ईश्वर विश्वास के अत्युक्तिपूर्ण अभिमान में यह भी न सोचा कि यदि हम न हुये तो धर्म की किसको और क्या आवश्यकता? यदि मैं स्वतंत्र अजर अमर और अजन्मा आत्मा नहीं तो आध्यात्म का क्या अर्थ? जो लोग कर्मवाद में उलझनें पाते हैं वह इसी कारण कि उन्होंने जीव के अजत्व और अमरत्व को नहीं समझा। यदि जीव की उत्पत्ति मान ली जाय तो उत्पत्ति का सहचर सुख या दुःख बिना किसी कर्म या कारण के प्राप्त हुआ मानना पड़ेगा इससे कर्म-फल-वाद की जड़ कट जायेगी और यदि एक बार कर्म-फल-वाद रूपी वृक्ष की जड़ कट गई तो भविष्य में सदाचार की भी जड़ कट जायेगी। फिर शुभाशुभ का कोई आधार ही न रहेगा। सत्यं शिवं सुन्दरम् का न कोई स्वरुप रहेगा न आधार। ईसाई मुसलमान आदि धर्मों ने यूनानी दर्शनकारों के अनुकरण से जीव को अनित्य और उत्पत्ति वाला मान लिया गया। इसके दुष्परिणाम यह हुये कि जीव की स्वतंत्रता नष्ट हो गई। जीव ईश्वर के हाथ का खिलौना बन गया। सृष्टि उत्पत्ति के लिये कोई युक्तियुक्त कारण नहीं रहा। ईश्वर जो चाहे सो कर सकता है ऐसा मान लिया गया, फिर भी अपने धर्मों द्वारा उत्पत्ति शुभाशुभ के पचड़े से छूट न पाये और मनघड़न्त युक्तियों से समाधान करना पड़ा। यह भी समाधान न था अपितु तसल्ली मात्र थी। न तो कर्म-फल-वाद माने बिना आचार-शास्त्र की नींव सुदृढ़ हो सकती है और न जीव को अनादि और कर्म करने में स्वतंत्र माने बिना कर्मफल वाद की पुष्टि हो सकती है।

(ÂýÀ31) - €Øæç ¤ãèÎ âÚÕ Øð çÚØð ¤æÈ¤Ü ¥‹Ø ·¤ô Ùãèç×Ü â·¤è æ

©žæÚU¥æ ·¤€Øæ¥ ‘ÀÕÁ¿Î æ ãÿ

(ÂýÀ32) - ãÖ Îôî ð Îãðç ¤ ÎâÚÕ ð©Â·¤ðÚ ¤æÈ¤Ü ãÖ Öô›Îð ãÿ

©žæÚUÑ Øç ç ¤ãè ·ð ç ¤Øð ¤æ ÈÚU ç ¤ãè¥‹Ø ·¤ôç×Ü ÁæØð Îô €Øæ¥æ ©â·¤æØð ·¤æØð? ¥ðÚU €Øæ§â â Ø¥æçÎ ÚU ÑÃØß Sí æ ¤æ¤ ÚUãðè?

(ÂýÀ33) - ãÙ Øç ×ñ Ù·¤æ ·¤ÚUç ¤ãè¥‹Ø ·¤ôÎ ôÎ ð ô§â×ð ç ¤ãè ·¤æ€ØæçÕ» ÇU ÁæãÿU çÁâ Üæð ·¤æ×ñSß Ø¢©ÂÖô» ·¤ÚUæ ©â·¤ô×ñÚ â ÚÕ¤ ôÎ ôç Øæ

©žæÚUÑ Îô€Øæ¥æ ¥ ãÚU ×æÚUÙæ Âã Ð ·¤ÚUÕôç ¤°·¤¥æ×è¥ÂÙð àææð ·¤×ôZ ðÈ¤Ü ÎâÚÕ ¤ôÎ ð â·¤æ ãÿ

(ÂýÚU34) - ×ñÙðÚ ãÙ ãæ ÁÌæÿ

©žæÚU¥ðÚU€Øæ×ñ¥ÂÙð¥ àææð ·¤×ôZ·¤æÈ¤Ü ÜðÎ âÚÕ·¤ôÎ ð â·¤æ ãÿ?

(ÂýÀ35) - §â âð ô¥ ÙÍ ãÙ Áæð¥¤æ àææð ·¤×ôZ ·¤æ Èü ÜÂèÜ ÎôÜô» ÎâÚÕ ¤ôÎ ðæ ¤× Âæ‹Î ·¤ÚUÌðÂÚUÜ ð¥ àææð ·¤×ôZ ·¤æ Èü Ü ÜÂèÜ Îô â ÜèÎâÚÕ ·¤ôÎ ðæ ¿ ãÌðÿ ¥ðÚU©Ù ·¤ô ÜæðÜè ·¤ô§ü Sßè·¤æÚU ·¤ÚUÌæ

©žæÚUÑ Õâ â×Ûæ ðÎ Ø çæ ¤ ¥æ·¤æ ç ·¤æÚUæ ã Ø ç ¤çÙæ ¥ÂØæ ãæÙð, ç ¤çÙæãæÙ ·¤ ÙæÚ ¥ðÚU ç ¤çÙæ %Ø àææð ãÿ§â ÇÚÕØð ØãÖ×ñÙæ ÂÚU¤ ãÿ ¤ ·¤ô§ÃØç¤ ·¤Õèç ¤ãè¥‹Ø ·¤ðç ¤ØðÙ Îôàææð ·¤×ôZ ·¤æÈ¤Ü Âý¥ ·¤ÚUæ·¤æãÙ ¥àææð ·¤×ôZ·¤æ ‡ÇÿÚ §âÚ ÑÚÕè ·¤ðÎ ‡ÇÚU ðæãÙÀÁâ·¤ð¹ ð¥ÂÙ ×ãæÙ ¥ÂÙð ·¤ð â È Îðæãâ¿æ·¤ð

अच्छे कर्म हैं। यदि ईश्वर यह आज्ञा दे दे कि कुछ लोग अपनी इच्छा के अनुसार अपने शुभ कर्मों द्वारा उपार्जित सुखों को दूसरों को दे सकते हैं और राजे महाराजे अपनी समस्त प्रजा के शुभ कर्मों का एक भाग तो अवश्य ही अपने लिये सुरक्षित कर लें परन्तु ऐसा नहीं होता है।

(प्रश्न ३६) आपकी युक्ति का तो हमारे पास कोई काट नहीं परन्तु आप की बात जी में चुभती नहीं।

उत्तर-आपत्ति क्या है?

(प्रश्नः ३७) हम रोज देखते हैं कि एक मनुष्य दूसरे को सुख भी देता है और दुःख भी। सुख देने वाले को श्रेष्ठ, भद्र तथा धर्मात्मा कहते हैं। दुःख देने वाले को दुष्ट और अधर्मी कहा जाता है। यदि एक आदमी दूसरे को सुख या दुःख न दे सकता तो संसार में दुःख होता ही नहीं। न आचार शास्त्र के नियत करने की आवश्यकता होती।

उत्तर-आपने आधी बात सोची। एक देशीय धारणायें अधिकतर भ्रान्तिमूलक होती हैं?

(प्रश्न ३८) कैसे?

उत्तर-यह तो ठीक है कि मैं स्वार्थवश किसी को दुःख देने का इरादा कर सकता हूँ या प्रेम अथवा मोहवश अपने किसी सुख को दूसरे के अर्पण करने का विचार कर सकता हूँ। परन्तु उस इरादे का फलीफूत होना तो मेरे अधिकार में नहीं है। माता नहीं चाहती कि उसके बच्चों की भूलों का बुरा फल उनको मिले। वह अपने शुभ कर्मों का सुख भी अर्पण करने को उद्यत है और बच्चों के अशुभ कर्मों का दुःख भी अपने ऊपर ले सकती है। परन्तु क्या मातायें इस शुभ विचार की पूर्ति में सर्वथा और सर्वदा सफल होती हैं? क्या हम जिस जिसका अहित चाहते हैं उसका उतना अहित भी हो जाता है? यदि ऐसा होता तो सृष्टि अनाचार और अराजकता से भर जाती। अशुभ चिंतन और उस चिंतन से उत्पन्न हुये (किसी सीमा के भीतर) कर्म तो सम्भव हैं, परन्तु उनसे दूसरों को हानि पहुँच ही जाय यह अवश्यम्भावी नहीं है। और न हमारे हाथ में यह है कि सबके साथ परोपकार करने में सफल ही हो जाँय?

(प्रश्न ३९) यदि साफल्य का विश्वास न हो तो न कोई परोपकार करने में दत्तचित्त हो न अनुपकार करने में। मुझे जब आशा हो जाती है कि अमुक को सुख या दुःख पहुँचा सकूंगा तब ही उस कर्म के करने में मेरी प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं।

उत्तर-सबकी प्रवृत्तियाँ भिन्न होती हैं, या एक सी ?

(प्रश्न ४०) इस प्रश्न से आपका क्या प्रयोजन है? प्रश्न स्पष्ट कीजिये।

उत्तर-क्या सब अन्य मनुष्य मेरे लिये एक सी ही प्रवृत्ति रखते हैं या भिन्न-भिन्न? क्या सब लोग मेरा उपकार ही करना चाहते हैं या कुछ अपकार या अनुपकार।

(प्रश्न ४१) भिन्न-भिन्न! मेरे मित्र मेरे साथ उपकार करना चाहते हैं और शत्रु अनुपकार।

उत्तर-तो फिर आपको उपकारों का फल मिलेगा या अनुपकारों का?

(प्रश्न ४२) यदि अनुपकार करने वालों का प्राबल्य हुआ तो मैं दुःखी हूँगा और उपकार करने वालों का प्राबल्य हुआ तो सुखी हूँगा।

उत्तर-यह ईश्वर का न्यायपूर्ण राज तो नहीं हुआ। यह हुआ जिसकी लाठी उसकी भैंस। ईश्वर ऐसी अराजकता को कैसे सहन कर सकता है?

(प्रश्न ४३) वह अनुपकार करने वालों को दण्ड देगा जैसा राजा की ओर से घातक को फाँसी होती है।

उत्तर-इसको फिर सोचिये। आपने जो दृष्टान्त दिया उसके पूरे अर्थों पर विचार नहीं किया।

(प्रश्न ४४) कैसे?

उत्तर-क्या घातक को फाँसी देने से मरने वाले के दुःख में कमी हो जाती है?

(प्रश्न ४५) घातक भावी अत्याचारों के करने और दूसरों को दुःख देने से रोका जा सकता है।

उत्तर-यह तो दूसरों की बात कह रहे हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि यदि 'अ' ने 'ब' को मार डाला और 'अ' को फाँसी हो गई तो 'ब' को क्या मिला? 'ब' को बिना कर्मों के मौत की सज़ा क्यों मिली? जिस राज्य में बिना पाप किये हुये भी किसी को किसी साधन द्वारा अनुपार्जित दण्ड या दुःख मिल जाए उस राज्य को अच्छा तो नहीं कहेंगे? राज्य का केवल यही तो कर्तव्य नहीं है कि पापी को दण्ड दे। उसका यह भी कर्तव्य है कि जो पापी नहीं है उसको सज़ा न मिले। या किसी प्रकार भी न दी जा सके। **(शेष पृष्ठ 8 पर)**

पृष्ठ 2 का शेष-संसार चक्र

उसको (स्वादु) मीठा उत्तम (पिप्पलम्) आनन्द फल (आहु:) बताते है।

यह उपरोक्त (आप:, तमस्, पिशङ्गिला, स्वधा, वृक्ष आदि) मूल-प्रधान उपादान कारण को बतलाने में साधक है। जो कि आगे चलकर कार्य रूप में वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों के नाम से जाने जाते हैं। इनकी विकृतियों के द्वारा ही परमात्मा संसार को रचता है, धारता और नियत समय पर प्रलय करता है।

प्रश्न-सर्व प्रथम सृष्टि कौन सी है?

उत्तर-ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों नित्य स्वरूप से सत्=नित्य और अनादि हैं। इनके मेल से सृष्टि रचना, स्थिति और वियोग से विषमावस्था से पुनरपि साम्यावस्था में होते रहते हैं। ईश्वर का कर्तृत्व, प्रकृति का कर्मत्व तथा जीवात्माओं का कर्म तथा कर्म फल भोग आदि स्वाभाविक होने से ये अवस्थाएँ बनती रहती हैं। इसीलिये यह जगत् प्रवाह से अनादि है। सृष्टि के पीछे प्रलय, प्रलय से पूर्व सृष्टि प्रवाह से होती चली आती हैं। सर्वप्रथम सृष्टि का बताना बनता नहीं है।

प्रश्न-इसमें क्या प्रमाण है कि ऐसे ही होता रहता है?

उत्तर-(१) "**पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानिविश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभार: सनादेव न शीर्यते सनामि:**" (ऋ० १।१६४।१३) इसमें चक्र बराबर घूम रहा है! (सनात् एव) सनातन नित्य अनादि काल से ही (शीर्यते) चला आता हुआ नहीं घिसता है।

(२) "**सनेभि चक्रमजरं विवावृत उत्तानायांदश युक्ता वहन्ति। सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिशार्पिता भुवनानि विश्वा**" (ऋ० १।१६४।१४) अर्थ-(सनेमि अजरं चक्रं विवावृते) नित्य दृढ़ चक्र बराबर घूमता है। (दश युक्ता) पञ्च भूत तथा उनकी पाँच तन्मात्राएँ सब मिलकर (वहन्ति) इस जगत् को धारण करते हैं। (तस्मिन्) उसी नित्य चक्र पर (विश्वा भुवनानि) सब लोक (आ अर्पिता) स्थित हैं। इसलिये कहना होगा कि चक्र में यह बताना कि कौन सी प्रथम वा अन्तिम सृष्टि-नहीं बनता।

प्रश्न-अच्छा बताइये कि सृष्टि कब रची जाती है? प्रमाण बतायें।

उत्तर-"**सुभू: स्वयम्भू: प्रथमोऽन्तर्महत्यवर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जात: प्रजापति:**" (यजु: २३।६३) अर्थ-(य:) जिस (सुभू:) भली प्रकार से विद्यमान (स्वयम्भू:) अनादि=उत्पत्तिरहित (प्रथम:) सृष्टि से पूर्व जगदीश्वर (महति) विस्तृत (अर्णवे) आप:= परमाणुओं के (अन्त:) बीच में (ऋत्वियम्) समयानुकूल (गर्भम्) बीज को (दधे) धारण करता है (ह) वही उपासना योग्य है।

प्रश्न-वैदिक धर्म को छोड़कर इस उपादान कारण का कहीं चिन्ह भी नहीं मिलता।

उत्तर-कुरआन शरीफ़ से ज्ञात होता है कि उपादान कारण ही सृष्टि के रचने में सहायक है। देखो सुरहुरर्हनन १४-१५ आयत खल्किल इन्साने मन में बताया कि पैदा किया इन्सान को बजने वाली मिट्टी से जो मनिन्द ठीकरे के होती है। इसी प्रकार से पैदा किये जिन्न शोले वाली अग्नि से। इस बात पर कि-मिट्टी और आग किस उपादान कारण से पैदा हुए? चुपचापी है। इससे यह परिणाम निकलता है कि ये अनुत्पन्न और अनादि नित्य हैं।

प्रश्न-सुना जाता कि वैदिक धर्म में ईश्वर पूर्ण, अकाम, धीर है। तो फिर संसार क्यों रचा जाता है?

उत्तर-"**पृथ्वीममतिं सृजान आ नृभ्यो मर्त भोजनं सुवान:**" (ऋ० ७।३८।२) अर्थात् मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं उनके फल बनते हैं उन फलों को भोगना होता है। ईश्वर न्यायकारी (अर्यमा) और दयालु-करुणेश (ऋ० १।१००।७) है ईश्वर की व्यवस्था द्वारा मनुष्यों को कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। "**मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य: प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम्**" (ऋ० १०।१२५।४) अर्थात्-जो विविध प्रकार के तत्त्व ज्ञानों को देखता जो प्राण लेता है जो उपदिष्ट ज्ञान का श्रवण करता है वह मुझ ईश्वर से दिये गये (अन्नम्) अक्षय कर्मफल का भोग करता है। कर्म करने के लिये भी शरीर धारण कराया जाता है।

प्रश्न-कर्म भोग करने के लिये जीव स्वयं पर्याप्त है? ईश्वर की क्या आवश्यकता है?

उत्तर-जड़-ज्ञान शून्य कर्मों को निमित्त माना जाता है फल भोग के लिये परन्तु किस प्रकार के कर्म का क्या फल होता है यह जानना और फिर फल भुगतवाना किसी चेतन का काम है। प्रत्येक जीव सर्वज्ञ नहीं। न ही पूर्ण समर्थ है। अपने लिये जीव कर्म फलों के भोगने के लिये भोगायतन रचने में असमर्थ है। कोई जीव अपना अगला शरीर कैसे बना सकता है? किसी न्यायकारी अध्यक्ष के द्वारा ही अगला जन्म पाने के लिये गर्भ में भेजा जाता है। (देखो ऋ० ४।२७।१)।

प्रश्न-कोई चेतन सर्वव्यापक कैसे हो सकता है? इसमें कोई वेद समर्थक भी नहीं।

उत्तर-यह तो सत्य है कि कोई चेतन जीव स्वरूप से सर्वव्यापक नहीं हो सकता परन्तु जो चेतन स्वरूप से ही नित्य सर्वव्यापक है उसके सामने क्या कठिनाई है?

(1) "**विश्वा भुवना वितिष्ठे**" (ऋ० १०।१२५।७) अर्थात् समस्त लोकों में व्याप्त हूँ।

(२) "**पञ्चस्वन्त: पुरुष आविवेश तान्यतन्त: पुरुषे अर्पितानि**" (यजु: २३।५) अर्थ-पञ्च भूतों वा सूक्ष्म मात्राओं में पूर्ण परमेश्वर व्यापक है और वे पञ्च मात्राएं पूर्ण पुरुष के भीतर स्थापित हैं। जो लोग चेतन को अणु=परिच्छिन्न तथा एक देशी मानते हैं वही तो सर्वव्यापकता न मानते हुए नकार करते हैं सर्वव्यापक चेतन सत्ता से। यही कारण है कि वे ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मान सकते। यदि भगवान सर्वगत न होता तो संसार में भुवनों का प्रबन्ध कैसे करता।

प्रश्न-अच्छा तो इसका क्या आधार है कि भविष्यत् में इसी प्रकार सृष्टियां रची जाती रहेंगी?

उत्तर-(१) बुद्धि तथा युक्ति मानती है कि प्रत्येक कार्य अनित्य होता है इसलिये किसी समय में अपने कारण में प्रलीन हो जायेगा।

(२) "**न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति। यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वष्मन्दिव: सुवति सत्यमस्त तत्**" (ऋ० ४।५४।४) अर्थ-(दैव्यस्य सवितु:) सूर्यादि के उत्पादक परमेश्वर का (तत् न प्रमिये) वह सामर्थ्य कभी नष्ट नहीं होता (यत्) जो (विश्वं भुवनम्) सारे उत्पन्न जगत् को धारता है और आगे को भी धारेगा और शिल्पी के समान भूमि और आकाश पर सब कुछ रचता है। (तत्) यह सब संसार रचने का सामर्थ्य (अस्य) इस परमात्मा का (सत्यम्) सत्य है।

प्रश्न-ईश्वर न्यायकारी है और दयालु है। सो कैसे

उत्तर-क्या यह प्रत्यक्ष नहीं देखते कि जगत् में जीव भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म करते हैं और कोई सुखी है और कोई दु:खी? कर्मभेद फलभोगभेद का सूचक होता है। संसार में विचित्रता कर्मों की विचित्रता पर ही तो देखी जाती है। कपिल आचार्य जी ने इसी भेद के आधार ÂÚU ·¤ãUæ "**कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम्**" (सांख्य दर्शन अ० ६ सूत्र ४१)। उस प्रभु की दया कितनी अनोखी है कि जहां कर्मफल भी भुगतवाता है वहां कर्त्ता जीवों का सुधार भी करता है। गत जन्मों की दुर्वृत्तियों तथा संस्कारों को भुलवाने में अनेक प्रकार की व्यवस्था करता है।

प्रश्न-वेदों का उदाहरण बार बार दिया जा रहा है। परन्तु यह तो बताइये कि यह ईश्वरोक्त भी हैं?

उत्तर-निश्चित् रूप से वेदों का ज्ञान निर्भ्रान्त, शुद्ध, पवित्र, सृष्टिक्रम के अनुकूल तथा अविरुद्ध और ईश्वरीय गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुकूल, आप्त पुरुषों के आचार तथा रागद्वेष से रहित, न्याय तथा उपकार, दयापूर्ण है। भगवान् की रचना भूगोल है। इसके अनुकूल उसका ज्ञान है विपरीत नहीं।

यथा-नर नारी के मिलाप से सन्तान का जन्म सृष्टिक्रम के अनुकूल परन्तु केवल नर से या नारी से बिना संयोग के असंभव है। यदि किसी ईश्वरीय ज्ञान कहाने वाली पुस्तक में असंभव बातें हों वह पुस्तक सृष्टिक्रम के विरुद्ध अमान्य है। बिना उपादान कारण के केवल जीवात्मा या ईश्वर से जगत् का प्रादुर्भाव नहीं होता। यदि इसके विरुद्ध बातें कहीं जाती हों तो वे स्वभाव के विरुद्ध तथा असत्यपूर्ण होती हैं। अत एव इस प्रकार की दृष्टि से वेद ही ईश्वरोक्त हैं अन्य ग्रन्थ नहीं हो सकते।

पृष्ठ 6 का शेष–कर्म का सिद्धान्त

(प्रश्न ४६) क्या हम देखते नहीं है कि अच्छे से अच्छे राज्यों में भी बिना अपराध के दुष्टों द्वारा लोगों को पीड़ा पहुँचती है और अपराधी दण्ड पाते हैं।

उत्तर–हाँ देखते हैं, परन्तु यह तो मानवी सरकारों की अपनी अल्पज्ञता और निर्बलता है। मानव शासक का ज्ञान भी सीमित है और बल भी सीमित। अत: उसे पता नहीं चलता कि ‘अ’ ‘ब’ को मारने का इरादा कर रहा है। यदि मालूम हो जाए तो ‘अ’ को रोकने का अवश्य प्रबन्ध किया जाए। ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्त है अत: उसके ज्ञान या नियंत्रण से कोई बच ही नहीं सकता, जो आंशिक साम्राज्य में तो कल्पना में भी नहीं आ सकती। अत: अन्ततोगत्वा यही मानना पड़ेगा कि न तो कोई अकारण किस को दु:ख दे सकता है न सुख।

(प्रश्न ४७) कारण तो होता है परन्तु दूसरों के इरादों और कर्मों के रुप में।

उत्तर:–नहीं। यहाँ ‘कारण’ से हमारा तात्पर्य स्वकृत कर्मों से है। अर्थात् जब तक ‘अ’ के अच्छे कर्म या बुरे कर्म नहीं होते ‘अ’ को सुख या दु:ख नहीं मिल सकता। ईश्वर का न्याय यही चाहता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी होगा अन्याय है। यदि ईश्वर शासक है और पूर्ण शक्तिमान्, पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण हितैषी शासक है तो उसके शासन में तीन बातें अवश्य होनी चाहिये:–

(१) कोई अपने कुकर्म के बिना दु:खरूपी दण्ड न पा सके और अपने सुकर्म के बिना सुखरूपी पारितोषिक भी न पा सके।

(२) यदि कोई किसी के साथ बुरा करना चाहे तो उसे दण्ड मिले, यदि कोई किसी के साथ भला करना चाहे तो उसे पारितोषिक मिले।

(३) व्यवस्था पूर्ण हो और सबके हित की अपेक्षा से की गई हो। हितों से अनपेक्षित न हो।

कमजोर और अल्पज्ञ शासक भी इन्हीं तीन बातों का ध्यान रखते हैं परन्तु अल्पशक्ति होने के कारण उनसे या तो भूल हो जाती है या वह सावधान होते हुए भी कर नहीं पाते। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वहितैषी ईश्वर में यह प्रश्न नहीं उठते। कर्मफल व्यवस्था ईश्वर की ओर से है। मनुष्य केवल एक छोटी सीमा तक उसका पालन करता है।

(प्रश्न ४८) भाग्य प्रधान है या पुरुषार्थ?

उत्तर–पुरुषार्थ प्रधान है क्योंकि भाग्य भी तो पुरुषार्थ का ही फल है। जब तक कर्म न हो तब तक फल की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

“कर्म प्रधान विश्व कर राखा।

जो जस करै सो तस फल चाखा।।”

पुरुषार्थ कर्म है, भाग्य फल!

(प्रश्न ४९) तो पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

उत्तर–यह ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि पुरुषार्थ क्या है और क्या पुरुषार्थ नहीं। हर एक कर्म जो मनुष्य करता है पुरुषार्थ नहीं है न पारिभाषिक अर्थ में कर्म ही है।

“किं कर्म किम कर्मेति... (गीता)

बहुत से लोग कुकर्मों को भी पुरुषार्थ समझते हैं। एक परीक्षार्थी का उदाहरण लीजिये किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना फल है जिसके पाने के लिए उसे यत्न करना है। उसका समस्त विहित विधान के अनुसार सावधानी से निरन्तर अध्ययन करना पुरुषार्थ है। अनिष्ट विधियों से परीक्षा भवन में नकल करना, परीक्षक को धमकी देना उस पर दबाव डालना या अन्य चालाकियां करना क्रियायें (कर्म) तो हैं परन्तु उनको शुभ कर्म या पुरुषार्थ में नहीं गिन सकते। संसार में यह बड़ा भ्रम फैला हुआ है कि प्रत्येक चालाकी, मक्कारी और दगाबाजी को पुरुषार्थ समझ कर लोग बुरे कर्मों में उलझे रहते हैं। उनका फल बुरा होता है। प्राय: सर्वसाधारण में तद्वीर और तकदीर के विवाद चलते रहते हैं। प्राय: चालाकी से की हुई दौड़ धूप को तद्वीर या पुरुषार्थ समझ लिया जाता है। रिश्वत देना तद्वीर, झूठ बोलना तद्वीर, चालाकी चलना तद्वीर। जो रिश्वत न दे या चालाकी न चले उसको कहेंगें कि “यह सोता रहा, इसने तद्वीर तो की नहीं। बिना पुरुषार्थ किये भी फल मिल सकता है क्या?” इस प्रकार संसार में शुभ कर्म को पुरुषार्थ नहीं समझा जाता। इसी कारण पाप में प्रवृत्ति बढ़ती है और वह दु:ख मूलक भी होती है। वस्तु: कर्तव्य परायणता पुरुषार्थ है। अन्य सब अपुरुषार्थ या असली तद्वीर का उल्टा मात्र।

(प्रश्न ५०) कर्तव्य क्या है अकर्तव्य क्या है?

उत्तर–एक उदाहरण सोचिये। राजभक्ति क्या है और राजद्रोह क्या है? राज्य का शासन जिन मूल तत्त्वों के आधीन है उनका सहयोग करना राजभक्ति और उनके विपरीत आचरण राजद्रोह है। राज्य कर्मचारियों को अनुचित रिश्वत देना राजद्रोह है क्योंकि यह उन मूल तत्त्वों के विपरीत है जिस पर शासन आधारित है। राजा की खुशामद करना राजद्रोह है क्योंकि शासन का मूल तत्त्व राजा के स्वेच्छाचरण की संतुष्टि पर आधारित नहीं है। कमजोर और स्वार्थी राजे कभी कभी असली राज्यभक्ति को राजद्रोह और राजद्रोह को राजभक्ति समझ लेते हैं। परन्तु है यह समझ का फेर।

इसी उदाहरण को विश्व पर घटाइये। विश्व के शासन के कुछ मूल तत्त्व हैं। और उनका असली प्रयोजन है जीवों का हित। अत: उन मूल तत्त्वों के साथ सहयोग करना कर्तव्यता या शुभकर्म है। और उनमें विघ्न डालने का विचार करना अकर्तव्यता या अशुभकर्म है। इसी को पुरुषार्थ और अपुरुषार्थी कहेंगे। पुरुषार्थी का शाब्दिक अर्थ यह है ‘पुरुष का अर्थ’ अर्थात् ‘जीव का हित’ जीव का हित भी वह नहीं जो जीव चाहे। मनुष्य चाहता तो बुरा भी है और भला भी। हित है अन्तिम आध्यात्मिक उन्नति का विकास। अत: यह सिद्ध हुआ कि हमारा जो कर्म हमारे विश्व के आधात्मिक विकास में सहायक हो वही पुरुषार्थ है और जो बाधक हो वह अपुरुषार्थ। बच्चा रोग में अनिष्ट चीजें खाना चाहता है। उनको जुटाना न तो बच्चे का हित है न अर्थ। अत: जो बच्चे की इच्छा पूर्ति को ही उसका हित समझता है वह भूल करता है।

(प्रश्न ५१) कर्म का फल किस रूप में मिलता है?

उत्तर–फल के केवल दो ही रूप हैं सुख या दु:ख। शुभ कर्मों का फल सुख है अशुभ का दु:ख। चिरस्थायी और दु:खरहित सुख को आनन्द कहते हैं। स्वर्ग वह अवस्था है जिसमें सुख ही सुख हो, नरक वह अवस्था है जिसमें दु:ख अत्यन्त अधिक हो।

(प्रश्न ५२) यदि आत्मा का विकास या उन्नति ही सृष्टि का प्रयोजन है तो सुख या दु:ख का आत्मविकास पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर–सुख आत्मा का भोजन है, और दु:ख औषधी, सुखी होकर आत्मा इष्ट काम करने में उत्साहित होता है और दु:ख उसको अनिष्ट काम करने से रोकते हैं। इस प्रकार सुख या दु:ख दोनों आत्मविश्वास के साधन हैं।

(प्रश्न ५३) क्या सुख पाकर मनुष्य आलसी, घमंडी, असावधान तथा प्रमादी नहीं बन जाता है और क्या दुखों से मनुष्य को निराशा, मनोदौर्बल्य तथा आत्मग्लानि नहीं होती।

उत्तर–कभी कभी ऐसा होता है कि बुद्धिमान् मनुष्य अपने को इस दुर्गुण से बचाता है। परन्तु यदि सुख का सर्वथा अभाव हो तो जीवन कठिन हो जाए। दु:ख भी एक सीमा से बाहर असह्य हो जाता है।

स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की तरफ से मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक प्रेम भारद्वाज द्वारा गायत्री प्रिंटिंग प्रैस, मण्डी रोड जालन्धर पंजाब से मुद्रित एवं गुरुदत्त भवन, चौक किशनपुरा, जालन्धर से प्रकाशित।
सम्पादक–प्रेम भारद्वाज
पीआरबी एक्ट के तहत प्रकाशित सामग्री के चयन हेतु उत्तरदायी किसी विवाद का न्यायिक क्षेत्र जालन्धर होगा। आर एन आई संख्या 26281/74 E-mail: apspunjab2010@gmail.com,
www.aryapratinidhisabha.org